इकाई–11

निरुक्त की व्याख्या पद्धति

इकाई की रूपरेखा–

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 वेद व वेदांगों का महत्त्व

11.3 वेदांगों में निरुक्त का स्थान

11.4 निरुक्त का काल

11.5 निरुक्त के आधुनिक अनुवादक एवं आलोचक

11.6 निरुक्त और निघण्टु

11.6.1 निरूक्त के विभाजित अध्याय

11.7 क्रिया के छः रुप (षड्भावविकारः)

11.8. औदुम्बरायण का शब्द नित्यत्व पक्ष और उसके दोष

11.9 शब्द का धातुज व अधातुज

11.10 मन्त्राः सार्थकाः अनर्थका वा

11.11 यास्क का निघण्टु और वेदांगों के प्रवर्तन पर प्रकाश

11.12 यास्क के मत में निर्वचन के तीन प्रमुख सिद्धान्त

11.13 पारिभाषिक शब्दावली

11.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.15 सारांश

11.16 संदभ ग्रंथ सूची

11.0 उद्देश्य

वेद समस्त ज्ञान का भण्डार है। वेद का अध्ययन भारतीय वाङ्मय को भलीभांति जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैदिक शब्दावली का उचित अर्थ एवं व्याख्या का ज्ञान होना आवश्यक है। वैदिक शब्दों का निघण्टु में संग्रह किया गया है तथा निघण्टु में संकलित शब्दों का निर्वचन एवं अर्थ यास्क द्वारा निरूक्त में किया गया है। इस इकाई में विद्यार्थी निरूक्त के शब्दों की व्याख्या किस प्रकार की जाती है इस पद्धति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

वेद भारतीय संस्कृति की अनमोल धरोहर है। भारतीय संस्कृति ही नहीं सम्पूर्ण मानवीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। वेद मानव संस्कृति के प्रथम उद्बोधन है जब अज्ञान अंधकार को चीरकर मानव ज्ञान के आलोक में पदार्पण कर रहा होगा तब ज्ञान ब्रह्माण्ड में वेद मनुष्य की प्रथम सशक्त जिज्ञासु उपस्थिति है। कॉलरिज के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञान की शुरुआत और अन्त विस्मय से होता है। वेदों में भो प्रकृति के उन विलक्षण रुपों का वर्णन है जिन्हे सर्वप्रथम देखकर ऋषिगण अचम्भित हुए होंगे। वेदों में ज्ञान–विज्ञान, भारतीय कला संस्कृति व जीवन के विविध आयामों का वर्णन है। यदि हमें भारतीय परम्परा, संस्कृति और गतिशीलता को समझना है तो वेदों का ज्ञान आवश्यक है।

11.2 वेद एवं वेदांगों का महत्त्व

वेद का अर्थ है ज्ञान (विद्ज्ञाने) अतः वेदों का ज्ञान धार्मिक दृष्टि से ही नहीं वरन् भारतीय प्राचीन सभ्यता, संस्कृति भाषा तथा मानवीय विकास व इतिहास की विविध जानकारियों के लिए भो आवश्यक है। वेदों को समझने, उनके कार्य कलाप व संचालन के लिए वेदांग ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। वेदांग छः है शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष व निरुक्त। पाणिनीय शिक्षा (41–42) में कहा गया है। कि–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथपठ्यते।
ज्येतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोतमुच्चयते।। 41 ।।

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। 42 ।।

1. **शिक्षा** –

पाणिनीय शिक्षा में स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण का नियम बताने वाली विद्या को शिक्षा कहा गया है।

मन्त्रो हीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तोन तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानंह्यिस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। पा. शि. 52

तीनों स्वरों (उदात्त, अनुदात्त व स्वरित) का उच्चारण किस प्रकार हो यह बतलाना ही शिक्षा का प्रधान कार्य है। स्वरों के अल्प भद से बड़े–बड़े अनर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार शुक्राचार्य इन्द्रनाश के लिए यज्ञ कर रहे थे परन्तु 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व स्वाहा' अर्थात हे इन्द के नाशक! तुम उत्पन्न हो बढ़ो। तत्पुरुष समास में अंत का अक्षर उदात्त होता, परन्तु भमवश पूर्व पद में स्वर रख दिया जो बहुब्रीहि समास में होता है फलतः अर्थ हुआ इन्द्र शत्रु है जिसके इस तरह वृत्र ही मारा गया। इस प्रकार शिक्षा में उच्चारण के स्थान, वर्ण, स्वर तथा मात्राओं के शुद्ध उच्चारण का अध्ययन होता है। अतः ध्वनि विज्ञान के नियमों का अध्ययन करना ही शिक्षा का उद्देश्य है शिक्षा ग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

2. **कल्प** –

वैदिक वाङमय के विस्तार को देखकर उनको सूत्रबद्ध करने का जो प्रयास किया गया उसे 'कल्प' कहा गया। 'वेद में निहित कर्मों को क्रमश व्यवस्थित करने वाला शास्त्र ही कल्प है।

कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।।

प्रत्येक वेद व शाखा के लिए अलग–अलग कल्प सूत्रों का निर्माण किया गया। ये तीन प्रकार है–

(i)	श्रौत सूत्र	–	दर्शपूर्णमासादि विविध यज्ञों का विधान।
(ii)	गृह्य सूत्र	–	गृह्याग्नि में होने वाले विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का वर्णन।
(iii)	धर्मसूत्र	–	इसमें चारों वर्णों, आश्रमों के कर्तव्य निर्दिष्ट है।

मनु आदि स्मृतियों के स्त्रोत तथा हिन्दुओं के कानून ग्रंथ भो यही धर्मसूत्र हैं।

3. **व्याकरण** –

शब्दों के निर्माण, उनकी शुद्धता तथा प्रकृति व प्रत्यय का विवेचन व्याकरण करता है। 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'। व्याकरण प्रकृति व प्रत्यय का उपदेश देकर, उसके अर्थ के निर्णय के लिए प्रयुक्त होता है। व्याकरण को वेद का मुख कहा गया है।

मुखं व्याकरणं स्मृतम् (ऋ. 4/58/6)

वेद में व्याकरण को वृषभ के रुपक के रुप में प्रस्तुत किया गया है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।

इस वृषभ रूपी व्याकरण के नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात चार सींग, 'भत्, भविष्य व वर्तमान' तीन पाद, सुप् व तिङ् (धातुरुप व शब्दरुप) दो सिर और सात विभक्तियाँ इसके सात हाथ है। उर कण्ठ व सिर इन तीन स्थानों से बंधा हुआ यह वृषभ शब्द करता है तथा महान् देव मनुष्यों के शरीर में प्रवेश किये हुए है।

तैत्तरीय संहिता में व्याकरण की उत्पत्ति की कथा है इसमें ऐन्द्र व्याकरण को ही सबसे प्राचीन माना गया है। वर्तमान में व्याकरण का प्रतिनिधि ग्रन्थ पाणिन–व्याकरण है। यह आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम व द्वितीय अध्याय में संज्ञा व परिभाषा सम्बंधी सूत्र है। तृतीय से पाँचवे अध्याय तक द्वित्व, सम्प्रसारण, संधि, स्वर, आगम, लोप आदि से सम्बंधित सूत्र है। सातवें में अंगाधिकार प्रकरण तथा आठवें में द्वित्व, प्लुत, णत्व, यत्व आदि के नियम वर्णित है। अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या करने के उद्देश्य से कात्यायन ने वार्तिक तथा पतञजलि ने महाभाष्य लिखा। महाभाष्य के पश्पशाह्निक में व्याकरण के पाँच प्रयोजन बताये गये है।

'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्।'

1. रक्षा 2. उहा 3. आगम 4. लघु और असन्देह के अतिरिक्त 13 अन्य प्रयोजन भो बताये गये हैं। व्याकरण को प्रौढ़ता प्रदान करने के लिए अष्टाध्यायी पर अनेक भाष्य टीकायें व व्याख्यायें लिखी गई। वामन जयादित्य की काशिका, भट्टोजी दीक्षित की 'सिद्धान्तकौमुदी, नागेश भट्ट का 'लघुशब्देन्दुशेखर' तथा 'भर्तृहरि का वाक्यपदीयम्' ग्रन्थ मुख्य है। व्याकरण का दार्शनिक विवेचन वाक्यपदीयम् में अभिव्यक्त हुआ है।

4. छन्द –

वेदमंत्रों के उच्चारण के लिए छंदों का ज्ञान आवश्यक है। छंद वेद के पाद कहे गये हैं। छंदोज्ञान के बिना वेद पंगु है। वेद मंत्रों के सम्यक् ज्ञान तथा शुद्ध उच्चारण के लिए छंद आवश्यक है। महर्षि कात्यायन लिखते है कि "यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो–दैवत–ब्राह्मणेन मन्त्रेण या जयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते या पापीयान् भवति।" अर्थात् जो व्यक्ति छंद, ऋषि और देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन अध्यापन या यजन करता है, उसका प्रत्येक कार्य निष्फल होता है।

निरुक्तकार यास्क के अनुसार छंद शब्द की व्युत्पत्ति छद् धातु से हुई है जिसका अर्थ है– आच्छादित करना। निघण्टु के अनुसार छद् धातु का अर्थ स्तुति करना, पूजा करना और प्रसन्न करना है। छंदों के द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है।

लौकिक संस्कृत में पद्यों को ही छंद माना गया है परन्तु वैदिक संस्कृत में गद्य–पद्य सभो को छंदमय माना है। 'आच्छन्दसि वागुच्चरति' अर्थात् छंद के बिना वाणी उच्चरित नहीं होती। नाट्य शास्त्र प्रणेता भरतमुनि भो छंद से विरहित शब्द स्वीकार नहीं करते हैं –

छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्द–वर्जिनम्। (ना. शा. 14/45)

कात्यायन ने 'ऋग्यजुष्' परिशिष्ट में कहा है कि कोई भो वाणी छन्दविरहित नहीं होती है –

"छन्दोभत्तमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद् विजानतः।
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन।।"

अर्थात समस्त वाङ्मय छंदमय है, वेद में ऐसा कोई भो मंत्र नहीं जो छंद के माध्यम से निर्मित न हो। प्राचीन आचार्यों ने एक अक्षर से लेकर 104 अक्षर तक के छंदों का विधान

किया है। सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने छंद का लक्षण ''जो अक्षरों का परिमाण है, वह छंद है''– (यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः) किया है।

छन्द शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ पिंगल कृत 'छन्दःसूत्र' है। यह लौकिक व वैदिक दोनों प्रकार के छंदों की दृष्टि से उपयागी ग्रन्थ है। वैदिक छंदों की सर्वप्रसिद्ध विशेषता इसमें अक्षरों की गणना होती है तथा वेद का सर्वप्रिय छंद त्रिष्टुप् है। इसके पश्चात् गायत्री व जगती छंद है।

5. ज्योतिष –

यज्ञ के सम्पादन करने का विशिष्ट समय बताने के लिए ज्योतिष की आवश्यकता महसूस हुई। ''ज्योतिषामयनं चक्षुः'' ज्योतिष वेद रुपी पुरुष का चक्षु है। दिन, रात, वर्ष, ऋतु, मास आदि का ज्ञान बिना ज्योतिष के नहीं हो सकता। वेद में ऋतुओं के नाम से ही वर्ष का बोध होता था 'जीवेम शरदः शतम्' अर्थात् सौ शरद ऋतुओं तक जीऊँ। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सभो वर्णों के लिए अलग–अलग ऋतुओं में यज्ञ का आधान करने का उल्लेख है –

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत्। ग्रीष्मे राजन्य आदधीत्। शरदि वैश्य आदधीत्।" ज्योतिष शास्त्र का प्राचीनतम् ग्रन्थ वेदांग ज्योतिष है। इसके रचयिता 'लगध' नामक ऋषि है। यह ग्रन्थ ऋग्वेद व यजुर्वेद से सम्बद्ध है। वेदांग ज्योतिष के अनुसार जो व्यक्ति ज्योतिष को भली–भाँति जानता है, वही यज्ञ का वास्तविक ज्ञाता है।

"वेदाहि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम।।"

6. निरुक्त –

निरुक्त में यास्क ने निघण्टु में गिनाये गये वैदिक शब्दों की व्याख्या की है। वैदिक शब्दों के अर्थ को जानने के लिए इसका विशेष महत्त्व है। ऋग्वेदभाष्य भ्मिका में सायण ने कहा है –

अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। अर्थात् अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रुप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वह निरुक्त है।

शब्द व अर्थ का सम्बद्ध नित्य है अत अंतरंग सम्बंध है अन्य वेदांग जहाँ वेद के बहिरंग पक्ष से सम्बद्ध है वहाँ निरुक्त का वेद से अंतरंग सम्बंध है। निघण्टु में शब्द गिना दिये गये हैं, उनकी निरुक्ति प्रस्तुत कर यास्क ने शब्दों के अर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की है। अर्थ ज्ञान के लिए वह शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ का आश्रय लेते है। निघण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के बारह अध्यायों में की है।

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।"

निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्या निरुक्त के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में की है। चतुर्थ अध्याय की व्याख्या निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम् तथा षष्ठ अध्यायों में की है और पंचम् अध्याय की व्याख्या सप्तम् अध्याय में की है।

संक्षेपतः निरुक्त का अर्थ निर्वचन से है। शब्द के मूल रूप का ज्ञान कराना, शब्द में प्रकृति प्रत्यय का स्पष्टीकरण, धातु अर्थ और प्रत्यय अर्थ का विस्तारीकरण, समानार्थक और नानार्थक शब्दों का विवेचन आदि कार्य निरुक्त का है। निरुक्त के लिए इंग्लिश में एटिमोताजी शब्द है जिसका अर्थ है शब्द की उत्पत्ति और उसके विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करना। इसे शब्द–व्युत्पत्ति शास्त्र भो कहा जाता है। प्राचीन काल में इस शास्त्र को निरुक्त कहते है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से निरुक्त का बहुत महत्त्व है, इसमें शब्द के मूल का ज्ञान कराया जाता है। इसमें अर्थविज्ञान की अनेक विधाओं का समावेश है। शब्द के अर्थ का किस प्रकार विकास होता है, किस प्रकार एकार्थक शब्द, अनेकार्थक हो जाते हैं और विभिन्न अर्थों वाले शब्द एकार्थक हो जाते हैं। समानार्थक शब्दों में सूक्ष्म भद क्या है?

शब्दों के अर्थों में परिवर्तन कैसे होता है इत्यादि का निरुक्त में विवेचन किया गया है। यास्क द्वारा रचित निरुक्त सम्प्रति उपलब्ध है। निरुक्त के 12 अध्याय है, दो अध्याय बाद में परिशिष्ट रुप में जुड़े है अतः कुल 14 अध्याय है। निरुक्त का प्रथम अध्याय भूमिका है, इसके अन्य अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड, नैगम काण्ड, दैवत काण्ड से जाना जाता है।

इस प्रकार निरुक्त व्युत्पत्ति शास्त्र, भाषा शास्त्र तथा अर्थविज्ञान का सबसे प्राचीन प्रमाणिक ग्रंथ है।

11.3 वेदांगों में निरुक्त का स्थान –

निरुक्त वेदाध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यास्क ने स्वयं कहा है कि–

अथापि इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते। (निरुक्त 1/17)

निरुक्त द्वारा वैदिक मन्त्रों के अर्थ करने का ज्ञान ही नहीं होता वरन् वैदिक व लौकिक दुरुह शब्दों के निर्वचन करने का ढंग भो प्राप्त होता है। अतः निरुक्त व्याकरण शास्त्र की परिपूर्णता है।

व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम् (निरुक्त 1/15)

वेदों के 'पदपाठ' व 'देवता' आदि के विषय में भो निरुक्त की महती भूमिका है।

11.4 निरुक्त का काल –

निरुक्त के प्रारम्भ में निघण्टु को 'समाम्नाय' कहा है, इस शब्द की व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है। इससे निघण्टु का प्राचीनत्व सिद्ध होता है। महाभारत में मोक्षपर्व मे प्रजापति काश्यप निघण्टु के रचयिता माने गये है।

निघण्टु काल के बाद निरुक्त का समय प्रारम्भ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में 14 है। 13 वें निरुक्तकार यास्क है। इस विषय में 'शाकपूणि' का मत महत्त्वपूर्ण है। वृहद्देवता में भो इनका मत निर्दिष्ट किया है। वृहद्दवता व पुराणों में रथोत्तर शाकपूर्णि का स्मरण है तथा यास्क इनके विरुद्ध मत मानने वाला कहा गया है। जिस प्रकार निघण्टु के रचयिता के विषय में मतभद है, उसी प्रकार यास्क के काल के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभद रहा है। यास्क के काल निर्धारण में कोई निश्चित या ठोस आधार नहीं है। यास्क को वैयाकरणकार पाणिनि से पूर्व का माना जाता है। गोल्डस्टूकर, बीथलिक, स्कोल्ड आदि पाश्चात्य विद्वान् पाणिनि को यास्क से पूर्व मानते है तथा इन्हीं के आधार पर 'निरुक्तालोचन' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने पाणिनि को यास्क से पूर्व मानने के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं।

ऐतिहासिक यास्क को पाणिनि से पूर्ण मानते है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'यास्कादिम्यो गोत्रे (2/4/63)' में सम्भवतः पाणिनि ने निरुक्त रचयिता यास्क को ही स्मरण किया है।

यास्क ने व्याकरण विषयक जिस शब्दावली का प्रयोग किया है वह यादृच्छिक न होकर वर्णनात्मक है, पाणिनि अष्टाध्यायी में पारिभाषिक शब्द यादृच्छिक है। पाणिनि ने टि, घी, भ आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है तथा संज्ञा सूत्रों का निर्माण भो किया है जबकि यास्क ने संज्ञा विधायक सूत्रों का प्रयोग नहीं किया है। इस अन्तर के आधार पर यास्क की पूर्वकालिकता सिद्ध होती है। यदि पाणिनि यास्क से पूर्व होते तो यास्क ने अन्य नैरूक्त और व्याकरणाचार्यों के समान पाणिनि का स्मरण भो किया होता।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर भो यास्क पाणिनि से प्राचीन प्रतीत होते हैं। कुछ धातुएँ पाणिनि के धातुपाठ में नहीं मिलती है। कुछ 'तद्धित' प्रत्यय भो पाणिनी की अष्टाध्यायी में नहीं मिलते जैसे अध्वस्यु का 'यु' प्रत्यय पाणिनी में नहीं मिलता। इसी प्रकार 'आस्यदघ्न' यास्क ने स्त्रवण अर्थ वाली 'दध्' धात से निष्पन्न स्वतन्त्र शब्द माना है। पाणिनि 'प्रमाणे द्वघसज्दघ्नञ् मात्रच्' (अष्टाध्यायी 5/2/37) में दघनञ् को प्रत्यय मानते है। पाणिनि का प्रसिद्ध सूत्र 'प्रत्ययः' (अष्टा. 3/1/01) है जबकि यास्क इसके स्थान पर

उपलब्ध शब्द का प्रयोग करते है। डॉ. कपिलदेव शास्त्री व चुन्नीलाल शुक्ल हिन्दी निरुक्त की भूमिका में इस आधार पर यास्क को पाणिनि से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व मानते हैं। अतः ऐतिहासिकों ने पाणिनि का समय लगभग पाँचवी या चौथी शताब्दी ई.पू. माना है तो यास्क का समय लगभग सात सौ ई.पू. माना जा सकता है।

निघण्टु और निरुक्त – निरुक्त निघण्टु की टीका है। यास्क ने निरुक्त में निघण्टु में गिनाये गये वैदिक शब्दों की व्याख्या ही है। डॉ. लक्ष्मण सिंह ने निघण्टु को भारत में कोश साहित्य के आरम्भ का द्योतक मानते है। साहित्य में यत्र–तत्र बिखरे शब्दों को एक जगह एकत्रित कर लेना निघण्टु ग्रन्थों के प्रणयन का उद्देश्य था। निघण्टु ग्रन्थों में वेद के सभो शब्द नहीं गिनाये गये वरन् कुछ ही शब्दों को लिया गया है अतः निघण्टु को वैदिक शब्दों का पूर्ण कोष नहीं कह सकते। निघण्टु पर ही यास्क ने भाष्य रचना की जो पाँच अध्यायों में विभक्त है।

1. नैघण्टुक काण्ड
2. नैगम या ऐकपदिक काण्ड
3. दैवत काण्ड

निरुक्त के प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक–काण्ड कहलाते हैं और इनके शब्दों की व्याख्या यास्क के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में की है। निघण्टु के इन अध्यायों में कुल 1340 शब्द परिगणित है जिनमें केवल 230 शब्दों की ही व्याख्या यास्क ने की है। इन 1340 शब्दों के पर्यायवाची शब्द संग्रहीत है। इनमें काफी शब्द ऐसे है जो वैदिक साहित्य में उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए है। पर्याय शब्दों का वर्णन अमर–कोश की शैली पर हुआ है।

निघण्टु के चतुर्थ अध्याय के तीन खण्डों में 278 पद है, ये किसी के पयाय नहीं है, स्वतंत्र है। इन तीन खण्डों की व्याख्या यास्क ने चतुर्थ, पञचम तथा षष्ठ अध्यायों में की है। यह पद किसी के पर्याय नहीं है अतः इनकी बनावट का पता लगाना भो कठिन है।

निघण्टु का पञचम् तथा अन्तिम अध्याय दैवत काण्ड है, इसमें देवताओं की स्तुति की प्रधानता है। इनके छः खण्डों के शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के सातवे से बारहवें अध्याय तक की है। इसमें 13वां व 14वां अध्याय परिशिष्ट रुप में जुड़े है, इसमें देवताओं के दार्शनिक विषयों का विवेचन है। यास्क ने निरुक्त के सभो शब्दों की व्याख्या नहीं की है पर्यायवाची शब्दों में जैसे उदक के लिए निघण्टु में 100 शब्द गिनाये गये हैं परन्तु यास्क ने केवल एक शब्द 'उदक' की व्याख्या ही प्रस्तुत की है। यास्क ने केवल निघण्टु में आये शब्दों के ही निर्वचन प्रस्तुत नहीं किये वरन् प्रसंगत आये कितने ही शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत किया है जो लौकिक संस्कृत के शब्द है। शब्दों के निर्वचन करने से पूर्व यास्क ने विस्तृत भूमिका के रुप में पद के भद, शब्दों का धातुज–सिद्धान्त, निरुक्त की उपयोगिता, निर्वचन के नियम तथा विभिन्न उपयुक्त विषयों पर विचार किया है।

डॉ. उमाशंकर शर्मा ने निरुक्त की भूमिका में कहा है कि यास्क की इस भूमिका लिखने की शैली का अनुसरण ही पतञजलि महाभाष्य में किया गया है।

निरुक्त की शैली का यदि अवलोकन करें तो प्रारम्भ में ही शब्दों के संकलन के लिए निघण्टु शब्द का प्रयोग आते ही यास्क तुरन्त उसकी निरुक्ति प्रस्तुत करते है जैसे निघण्टवः कस्मात्! म यहाँ कस्मात् शब्द का अर्थ है किस धातु से और क्यों? निगमा इमे भवन्तिः– छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातः। निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्चन्ते इत्यौपमन्यवः। अपि वा आहननादेव स्युः। समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति।

इस प्रकार यास्क ऐसे शब्दों का प्रयोग दिखलाने के लिए या तो सीधे ही शब्द का उद्धरण दे देंगे या उसकी भूमिका बाँधते हुए, कहाँ किस संदभ में, किसके द्वारा प्रयोग किया गया, पूरा उल्लेख करते है। जैसे नि पूर्वक गम् धातु से निघण्टु का अर्थ है– अर्थ बतलाने वाला अर्थ यह औपमन्यव का विचार है। तीन प्रकार के शब्द का निर्वचन कर यास्क शब्द में

निहित सभो आर्थों व सम्भावनाओं तक पहुँचने का प्रयास किया है। कभो–कभो शब्द का मात्र निर्वचन या उल्लेख करके ही आगे बढ़ जाते हैं।

वेद मन्त्रों की व्याख्या में यास्क ने बहुत सरल शब्दों का प्रयोग किया है। छोटे–छोटे वाक्यों व समास रहित शब्दों के प्रयोग के कारण भाष्यकार की शैली भो निरूक्त की शैली से मिलती है। बहुत से विवादास्पद स्थानों पर यास्क ने पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए युक्तियुक्त रूप से उनका खण्डन व मण्डन किया है। 'मन्त्रा सार्थका अनर्थकाश्च', शब्दाः धातुजा अधातुजा आदि विषयों में शास्त्रार्थ करते हुए, उन सिद्धान्तों तथा उनके स्थापकों का उल्लेख करते हुए, समय–समय पर प्रचलित भिन्न–भिन्न विचारों व मान्यताओं का उल्लेख करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत कर यास्क के निघण्टु की उपादेयता और महत्ता को बढा दिया है।

निघण्टु अनेक थे क्योंकि निघण्टु शब्द के लिए एकवचन नहीं वरन् बहुवचन का प्रयोग हुआ है। निरुक्त के प्रारम्भ में ही यास्क ने इसके लिए बहुवचन का प्रयोग किया है। निरुक्त में जिन प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख है, वह निघण्टु के रचयिता ही थे। बृहद्देवता में यास्क के साथ–साथ शाकपूणि का भो उल्लेख हुआ है। पूना से शाकपूणि के निघण्टु का भो प्रकाशन हुआ है। यास्क ने साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयोबभवुः (1/20) उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि निघण्टु के अनेक रचनाकार रहे होंगे। निघण्टु के शब्दों का संकलन परम्परा स प्राप्त है। महाभारत के मोक्षधर्मपर्व में निघण्टु के रचयिता प्रजापति काश्यप है।

वृषो हि भगवान् धर्मः खतो लोकेषु भारत।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि माँ वृषमुत्तमम्।।

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद वृषाकपि प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः।।

परन्तु महाभारत के इस श्लोक को प्रमाणिक नहीं माना जाता। स्वामी दयानन्द ने माना है कि निघण्टु व निरुक्त दोनों के रचयिता यास्क ही है। आचार्य भगवद्दत्त ने भो इस मत को पुष्ट करने के लिए अनेक प्रमाण दिये हैं। यास्क ने 14 निरुक्तकारों के नाम दिये हैं, जो इस प्रकार है– और्णवाभ, औपमन्यव, औदुम्रायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, कात्थम्य, शाकपूणि, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्टीकि, कौष्टुकि। ऋग्वेदभाष्यभूमिका में सायण ने निघण्टु को ही निरुक्त माना है जिसकी व्याख्या यास्क ने की है।

अनेक विद्वानों के मतों व अध्ययन से स्पष्ट है कि निघण्टु बहुत सारे रहे होंगे जिन पर अनेकानेक आचार्यों ने भाष्य लिखे यास्क ने निघण्टु पर ही भाष्य लिखा। वर्तमान में एक ही निघण्टु प्राप्त होता है।

11.5 निरुक्त के आधुनिक अनुवादक एवं आलोचक –

सर्वप्रथम निरुक्त का जर्मन भाषा में प्रो. राथ ने विस्तृत भूमिका के साथ अनुवाद प्रस्तुत किया, इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद प्रो. मेकीशान ने किया। यह 1918 में बम्बई विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। पं. सत्यव्रत सामश्रमी का 'निरुक्तालोचन' ग्रन्थ भो इस श्रृंखला की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 'यास्क के काल' पर विस्तृत चर्चा करते हुए उन्होंने पाणिनी के बाद का स्वीकार किया है। 1921 में ही लन्दन से अंग्रेजी अनुवाद के साथ डॉ. लक्ष्मण सरुप ने 'निरुक्त' प्रकाशित कराया। 1927 में ही इनका निघण्टु व निरुक्त का अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर आलोचनात्मक अध्ययन पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ। 1924 म पंजाब विश्वविद्यालय से ही डॉ. सरूप ने स्कन्द महेश्वर की निरुक्त व्याख्या तीन भागों से प्रकाशित की 1931 में प. भगवद्दत्त ने अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास नामक पुस्तक में निरुक्तकार और निघण्टु के भाष्यकारों पर विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की। 1935 में प्रो. राजवाड़े के निरुक्त का मराठी में अनुवाद तथा 1940 में सम्पूर्ण निरुक्त का आलोचनात्मक अध्ययन तथा प्रथम तीन अध्यायों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया।

डॉ. सिद्धेश्वर शर्मा ने 'इटिमालाजीज ऑफ यास्क' नामक पुस्तक में भाषा विज्ञान के नियमों के आधार पर यास्क कृत निर्वचनों की गम्भोर परीक्षा की है। दुर्गाचार्य के भाष्य के आधार पर हिन्दी में निरुक्त की अनेक व्याख्यायें प्रकाशित हुई है। राजाराम आर्य, पं. चन्द्रमणि वेदालंकार, पं. सीताराम शास्त्री की निरुक्त व्याख्यायें प्रसिद्ध है। वर्तमान में पं. छज्जूराम एवं भगीरथ शास्त्री तथा पं. भगवद्दत्त की निरुक्त को हिन्दी व्याख्यायें प्रसिद्ध है।

11.6 निरुक्त और निघण्टु

निरुक्त में यास्क ने निघण्टु में संग्रहीत वैदिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की है। यास्क निरुक्त सम्प्रदाय के ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने प्राचीन अनेक निरुक्त आचार्यों के मतो का संकलन कर, उनके मतों का उल्लेख करते हुए अपन मत की स्थापना की है।

11.6.1 निरूक्त के विभाजित अध्याय

निरुक्त के प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद तक निरुक्त की भ्मिका वर्णित है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में निघण्टु का लक्षण, पदों के भद, भाव के विकार, शब्दों का धातुज सिद्धान्त और निरुक्त की उपयोगिता वर्णित है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में निर्वचन के सिद्धान्त, निघण्टु के शब्दों की व्याख्या, द्वितीय पाद से सप्तमपाद तक ऋचाओं के उद्धरण देकर अनेक शब्दों के निर्वचन प्रस्तुत किये हैं।

"तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।"

इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात ये चारों समाम्नाय के पद हैं। पदों के विषय में वैयाकरणों के भिन्न–भिन्न मत हैं। दुर्ग के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण में एक ही प्रकार का पद माना गया है तथा कुछ आचार्य सुबन्त व तिङन्त (सुप्तिङ्गतम् पदम्) दो प्रकार के पद मानते हैं। कुछ विद्वान् उपसर्ग व निपातों को एक मान कर तीन प्रकार के पद मानते हैं। यास्क चार प्रकार के पद मानते हैं तथा कर्मप्रवचनीय को मिलाकर कुछ विद्वान् पाँच प्रकार के पद स्वीकार करते हैं। नाम व आख्यात की महत्ता को देखते हुए सर्वप्रथम यास्क ने इनके लक्षण प्रस्तुत किये हैं–

भावप्रधानम् आख्यातम्, सत्वप्रधानानि नामानि।

अर्थात् जिसमें भाव की प्रधानता हो वह आख्यात है भाव से अभिप्राय क्रिया से है यथा पठति आदि। जिसमें सत्व की प्रधानता हो, सत्व से अभिप्राय सिद्ध क्रिया है यथा पाठ आदि नाम कहलाते हैं।

आख्यात में भाव की प्रधानता होती है। आरम्भ से लेकर अन्त तक होने वाली क्रिया जैसे– 'जाता है' क्रिया में पैर बढ़ाने से लेकर लक्ष्य तक पहुँचने वाली क्रिया का पूरा उपक्रम भाव कहलाता है। पूर्वापरिभ्तं भावमाख्यातेनाचष्टे, व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभति अपवर्गपर्यन्तम्।"

जब क्रिया मूर्त रूप धारण कर लेती है और सिद्ध हो जाती है तब नाम कहलाती है–

मूर्तं सत्वभ्तं सत्वानामभिः व्रज्या पंक्तिरिति।

उपसर्ग – यास्क ने उपसर्गों की निश्चित परिभाषा नहीं दी है। उपसर्गों के प्रसंग में उन्होंने शाकटायन की परिभाषा दी है– न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।

उपसर्ग नाम व आख्यात के साथ संयुक्त होकर ही अर्थ का निर्धारण करते हैं। उपसर्ग नाम व आख्यात के बिना अर्थ का निश्चय करने में समर्थ नहीं होते हैं। स्वतंत्र रूप से इनका कोई अर्थ नहीं है। उपसर्ग अर्थ के द्यौतक मात्र हैं, वाचक नहीं।

गार्ग्य के मत में – उच्चावचाः पदार्थाभवन्तीति गार्ग्यः अर्थात् उपसर्गों के बहुत से अर्थ होते हैं, यह स्वतंत्र रूप से भो सार्थक है अतः शाकटायन का मत उचित नहीं है। उपसर्ग से मिलकर नाम तथा आख्यात के अर्थ में जो भिन्नता आती है, वही उसका स्वतंत्र अर्थ है।

आ इत्यर्वागर्थे। प्र परा इत्येतस्य प्रतिलोम्यम्। अभोत्याभिमुख्यम्। प्रतीत्येतस्य प्रतिलोम्यम्। अति–सु इत्यभिपूजितार्थे। निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ। उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकीभावम्। वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अनु इति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उप इत्युपजनम् परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावम् ऐश्वर्यं वा। एवमु च्चावचानर्थान् प्राहुः। ते उपेक्षितव्याः।।

इस प्रकार 'आ' इधर के अर्थ में, प्र, परा उधर, अभि सामने, प्रति–विपरित, अति सु आदर के अर्थ में, उत् ऊपर, सम–एक साथ, वि, अप, अलग, अनु समान व पीछे के अर्थ में, अपि–संसर्ग, उप–समीप, परि चारों ओर, अधि ऊपर होना या सबसे ऊँचा इस प्रकार उपसर्ग भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

निपात – उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति इति निपाताः अर्थात् निपात अनेक अर्थ में होते हैं। लौकिक भाषा में इसका अर्थ है जो अज्ञात रूप से आ जाते हैं। यह तीन प्रकार के हैं–

1. **उपमार्थक निपात** –

   इव, न, चित् तथा नु उपमार्थ में प्रयुक्त होते हैं। इव लौकिक व वैदिक दोनों स्थानों पर उपमा अर्थ में प्रयुक्त हैं– **अग्निारिव** (ऋ. 10/84/2)

   'इन्द्र इव' (ऋ. 10/173/2)

   न – लौकिक संस्कृत में निषेधात्मक तथा वेद में उपमा व निषेध दोनों अर्थों में प्रयुक्त है।

   नेन्द्र देवम् अमंसत – निषेध अर्थ में तथा न का प्रयोग बाद में आने पर 'दुर्मदासो न सुरायाम्' उपमार्थ में प्रयुक्त हुआ है। चित् अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। आचार्यश्चिदिद ब्रूयात् यहाँ सम्मानार्थक है। दधिजित् (दही सा) यहाँ उपमार्थक है। कुल्माषाचिदाहर – यहाँ निन्दार्थक है। इसी प्रकार हेतु के प्रयोग में, अनुप्रश्न में, उपमार्थ में आदि अनेक अर्थों में 'नु' का प्रयोग होता है।

2. **कर्मोपसंग्रहार्थक निपात** –

   ये निपात दो या दो से अधिक सामासिक पदों के मध्य आकर अर्थों या धातुओं की भिन्नता को निश्चित रूप से सूचित करते हैं। इसमें च, वा, अह, ह, किल, हि, ननु, खलु, शाश्वतम्, नूनम– इत्यादि निपात आते हैं। यथा– अहंच त्वं च वृत्रहन् (ऋ. 7/72/51)

3. **पदपूरणार्थक निपात** –

   इनका प्रयोग छंदोबद्ध ग्रन्थों में पाद पूर्ति हेतु किया जाता है। गद्यात्मक शैली को अलकृंत करने के लिए भो इनका प्रयोग होता है। कम, इम्, इत, उ, इव, न, स्वत् इत्यादि निपात पदपूर्ति के लिए प्रयोग होते हैं।

11.7 क्रिया के षड्भाव विकार

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायाणिः। जायतेऽस्तिविपरिणमतेवर्धतेऽपक्षीयतेविनश्यतीति। निरुक्त कार न क्रिया के लिए 'आख्यात' शब्द का प्रयोग किया है तथा इसकी परिभाषा 'भाव
प्रधानमाख्यातम्' अर्थात् जिसमें भाव की प्रधानता हो वह अख्यात है। भाव के अन्तर्गत क्रिया की उत्पत्ति से लेकर अवसान पर्यन्त छः भाव आते हैं इस संदभ में उन्होंने वार्ष्यायणि के षड् भाव विकारों की चर्चा की है–

1.	जायते (उत्पन्न होना)	2.	अस्ति (होना)
3.	विपरिणमते (परिवर्तित होना)	4.	वर्धते (बढ़ना)
5.	अपक्षीयते (घटना)	6.	विनश्यति (नष्ट होना)

1. **जायते** – प्रथम भाव विकार जायते का अर्थ है। 'उत्पन्न होना' यह क्रिया के आरम्भ भाव को कहती है यह न ता परवर्ती क्रिया को कहती है, न उसका निषेध करती है। उत्पन्न होने की प्रक्रिया में न तो यह कह सकते है कि इस वस्तु की सत्ता है और न ही यह कह सकते है कि इसकी सत्ता नहीं है।

2. **अस्ति** – उत्पन्न वस्तु की निश्चयात्मक स्थिति को अस्ति कहते हैं। वैयाकरणों के अनुसार 'अपने आपका धारण करने का व्यापार अस्ति है।' आत्मानम् आत्मना विभद् अस्तीति व्यपदिश्यते (वाक्यपदीयम् 3, सं. 7)

3. **विपरिणमते** – इसका अभिप्राय है परिवर्तन होना। इसमें क्रिया अपनी मूल प्रकृति को नहीं छोड़ती तथा न ही अपनी परवर्ती क्रिया वर्धते को कहती है न मना करती है, जैसे मानव शरीर में अनेक परिवर्तन हो सकते हैं परन्तु वह स्वभाव को नहीं छोड़ता।

4. **वर्धते** – वर्धते अर्थात् वृद्धि होना। वृद्धि दो प्रकार की होती है। शरीर से वृद्धि होना या संयुक्त अर्थों अर्थात् धनेन वर्धते, विजयेन वर्धते इत्यादि से भो वृद्धि हो सकती है।

5. **अपक्षीयते** – ह्रास या अपक्षय को कहते हैं। इसके भो वृद्धि के समान दो भद है।

1. शरीर का ह्रास 2. पदार्थों का ह्रास।

6. **विनश्यति** – यह अन्तिम भाव विकार है जब पाँचवा भाव विकार अपक्षीयते अपनी चरम सीमा को प्राप्त करता है तब विनाश कहलाता है। वार्ष्यायणि के अनुसार इन छः विकारों के अतिरिक्त जितने भो भाव विकार प्राप्त होते हैं उन्हें इन्हीं के अन्तर्गत मान लेना चाहिये।

11.8 औदुम्बरायण का शब्द नित्यत्व पक्ष और उसके दोष –

"इन्द्रिय नित्यं वचनम् औदुम्बरायणः। तत्र चतुष्टयं नोपपद्यते। अयुगपद् उत्पन्नां वा शब्दानाम् इतरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतो योगश्च।"

आचार्य औदुम्बारायण शब्द को अनित्य मानते है। उनके अनुसार शब्द की सत्ता केवल वाक् इन्द्रिय तक ही है। जब तक जिह्वा वाणी या शब्द का उच्चारण करती है तब तक ही शब्द की सत्ता है तथा उच्चरित होते ही शब्द नष्ट हो जाता है। यास्क इस मत से सहमत नहीं है उनके अनुसार यदि शब्द अनित्य माना जाये तो उसमें नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात यह चतुर्विध विभाग नहीं बन सकेगा। उदाहरण के लिए 'गौः' शब्द उच्चारण करने का प्रयास करेंगे उस समय 'ग्' नष्ट हो चुका होगा अतः किसी वाक्य में चारों शब्दों का उच्चारण एक साथ असम्भव है।

जब शब्द एक साथ उच्चरित नहीं हो सकते तब उसमें कौन प्रधान है, कौन अप्रधान है, कौन विशेषण है, कौन विशेष्य। यह निर्णय करना कठिन होगा तथा शब्दों का परस्पर सम्बंध भो नहीं बन सकेगा।

औदुम्बरायण के इस मत में तृतीय दोष यह होगा कि शब्दों का शास्त्रकृत संयोग भो नहीं बन पायेगा। प्रकृति व प्रत्यय का संयोग, धातु व उपसर्ग का संयोग भो समाप्त हो जायेगा क्योंकि जब तक धातु उच्चरित करेगें तो प्रत्यय नहीं होगा और प्रत्यय के उच्चारण करने पर धातु नष्ट हो जायेगी अतः व्याकरण शास्त्रकृत शब्दों का प्रकृति– प्रत्यय का सम्बंध नष्ट हो जायेगा।

इस प्रकार यास्क शब्द को नित्य मानते हैं तथा शब्द को नित्य मानने से इन तीनों दोषों का निराकरण हो जाता है।

यास्क का शब्द नित्यत्व –

'व्याप्तिमत्वात् तु शब्दस्य' – शब्द के व्याप्तिमान् नित्य होने से तीनों दोषों का समाधान हो जाता है। शब्द नित्य है वह संस्कार रुप में वक्ता और श्रोता की बुद्धि अथवा हृदय में

विद्यमान रहता है, ध्वनियों के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। ध्वनियाँ ही वाक् इन्द्रिय द्वारा उच्चरित होती है तथा नष्ट हो जाती है। शब्द उच्चरित व अनुच्चरित दोनों अवस्थाओं में नित्य है। कात्यायन, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि तीनों शब्द अर्थ तथा उसके सम्बंध को नित्य मानते हैं। ध्वनि का स्फोट सिद्धान्त तथा शब्द ब्रह्म का वर्णन शब्द की नित्यता को ही उद्घोषित करता है। शब्द की नित्यता स्वीकार करने पर वाक्य में शब्दों का गौण प्रधान भाव, उनका चार पकार का विभाजन तथा प्रकृति प्रत्यय, धातु उपसर्ग आदि का योग भो सिद्ध हो जाता है।

11.9 शब्द धातुज या अधातुज –

तत्र नामान्याख्यातजानि इति शाकटयानः नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

वैयाकरणों में शाकटायन तथा निरुक्त के आचार्यों का मत है कि सभो शब्द धातु से निष्पन्न है। गार्ग्य इस मत से सहमत नहीं है, उनके अनुसार सभो शब्द धातु से निष्पन्न नहीं है। यास्क की संक्षिप्त शब्दावली दोनों वादों के प्रमुख आचार्यों तथा उनके अनुयायियों को स्पष्ट संकेत दे रही है। वैयाकरण शाकटायन तथा निरुक्त सम्प्रदाय के सभो आचार्य प्रायः प्रथम वाद के पोषक है तथा आचार्य गार्ग्य तथा वैयाकरण द्वितीय वाद के पोषक हैं।

आचार्य यास्क नैरुक्त होने के कारण प्रथम पक्ष के अनुयायी हैं तथा सभो शब्दों को धातु से निष्पन्न मानते हैं। उन्होंने गार्ग्य तथा वैयाकरणों के सिद्धान्त तथा उनके पाषण के लिए प्रस्तुत किये गये हेतुओं का उल्लेख करके उनका खण्डन किया है।

1. गार्ग्य के मत में वे ही शब्द धातुज है जो स्वर व संस्कार अर्थात् प्रकृति व प्रत्यय के संयोग से बने हो तथा प्रादेशिक गुण (प्रमुख क्रिया के वाचक धातु अथवा शब्दार्थ में विद्यमान क्रिया) से संयुक्त हो, इसके विपरित गौः, पुरूषः हस्ती इत्यादि शब्द रूढ़ि है।

तद् यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादिशिकेन विकारेण अन्वितौ स्याताम्।
संविज्ञातानि तानि यथा गौ, अश्व, पुरूषः हस्ती इति।

2. गार्ग्य के मत में यदि सभो शब्द धातुज होते तो कोई भो उस कर्म को करे उस सब वस्तु को उसी नाम से कहा जाता जैसे– अश् व्याप्तौ धातु से व प्रत्यय करके बना अश्व शब्द, जिसका अर्थ है जो मार्ग को व्याप्त करे उसे 'अश्व' कहा जाना चाहिये तथा 'तुदि तर्दने' धातु से निष्पन्न तृण शब्द जो कोई भो चुभ सुई, कांटा आदि 'तृण' कहा जाना चाहिये।
3. यदि सभो नाम धातुज हो तो जिन–जिन क्रियाओं से वस्तु या प्राणी का सम्बंध हो, उन क्रियाओं के आधार पर उनका नाम पड़ना चाहिये। अतः स्थूणा को दरशया (बिल में सोने वाली) तथा आसंजनी (शहतीर या छत को धारण करने वाली) भो कहा जाना चाहिये।
4. गार्ग्य के मतानुसार इन नामों का व्याकरण से सिद्ध तथा कर्म के आधार पर होने वाला प्रकृति प्रत्यय का विभाग है और जिस रुप में यह नाम स्पष्ट अर्थ वाले हो उनका प्रयोग किया जाना चाहिये। जैसे – 'पुरूष' को पुरिशय, अश्व को अष्टा तथा तृण को तर्दन कहा जाना चाहिये।
5. इस प्रकार पृथिवी आदि शब्दों के प्रयोग के प्रसिद्ध हो जाने पर, शब्दों के धातुज सिद्धान्त को मानने वाले विद्वान् यह विचार करते हैं कि फैली होने के कारण पृथ्वी को 'पृथिवी' कहते हैं परन्तु इसका कोई उत्तर उनके पास नहीं है कि पृथिवी को कब तथा किसने, कहाँ खड़े होकर फैलाया?
6. धातुज सिद्धान्त के प्रबल पोषक आचार्य शाकटायन शब्द के स्वर तथा संस्कार से अन्वित न होने पर, क्रिया की वाचक धातु के होने पर भो, शब्द के टुकड़ों में धातु

की कल्पना करने लगते हैं। जैसे– सत्य में इ (इण् धातु) यकारादि को बाद में करना तथा अस् धात के सकारादि रूप को आदि में करना।

7. शब्दों को 'धातुज' मानने का एक दोष यह भो है कि 'सत्वपूर्वो भावः' अर्थात् पहले वस्तु प्राणी की सत्ता होती है, तत्पश्चात् उसके द्वारा क्रिया होती है अतः बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले विद्यमान वस्तु या प्राणी का नाम नहीं रखा जा सकता।

गार्ग्य की युक्तियों का खण्डन –

1. गार्ग्य के प्रथम मत का यास्क भो समर्थन करते है। जहाँ शब्द स्वर व संस्कार समर्थ हो तथा अर्थ भत वस्तु के विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से अन्वित हो अर्थात शब्द धातुज हो इस सिद्धान्त पर यास्क ने कोई आक्षेप नहों किया है।

2 द्वितीय युक्ति के पक्ष में यास्क का कहना है कि एक ही कार्य करने वालों में से कुछ का नाम उस कार्य के आधार पर रखा जाता है, सबका नहीं। 'तक्षा' शब्द शिल्पी के लिए ही प्रयोग होता है।

इसी प्रकार पारिव्राजक जीवन तथा भ्मिज शब्द का प्रयोग उन क्रियाओं से युक्त सभो के लिए प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार शब्द धातुज होते हुए भो सीमित वस्तु या व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसका उत्तरदायी वैयाकरण व नैरुक्त नहीं वस्तुतः यह बाद में भाषा का प्रयोग करने वालों पर निभर करती है। उपयुक्त पक्ष के आधार तृतीय आक्षेप का भो खण्डन हो गया।

4. जिस रूप में शब्द स्पष्ट अर्थ वाले हो उस रूप में उनका प्रयोग किया जाये इसके उत्तर में यास्क कहते है कि कृदन्त शब्द बहुत थोड़े प्रयोग वाले हैं जैसे जाट्य, जागरुकः, दर्विहोमी तथा इसके विपरीत एक पदिक (अस्पष्टार्थ वाले) शब्द बहुत अधिक है, जैसे व्रततिः, दमूना, आट्णारः।

5. शब्दों के प्रसिद्ध हो जाने पर उनके प्रकृति–प्रत्यय के विषय में विचार करते हैं, इसके उत्तर में यास्क कहते है कि प्रकृति–प्रत्यय के सम्बंध की ही परीक्षा होती है तथा फैली होने के आधार पर 'पृथिवी' कहा जाता है। किसी के द्वारा फैलायी न हाने पर भो फैली हुई दिखायी देती है अतः पृथिवी को पृथिवी कहा जाता है।

6. जो यह कहा गया कि शाकटायन आदि ने शब्दों के भिन्न–भिन्न भागों को भिन्न–भिन्न धातुओं से सिद्ध किया इसके आक्षेप का निराकरण करते हुए यास्क कहते है कि इसमें निर्वचन करने वाले व्यक्ति का दोष है। निर्वचन शास्त्र या सभो शब्दों को धातुज मानने वाले सिद्धान्त की निन्दा नहीं है।

7. गार्ग्य के इस मत का कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले नामकरण कैसे का दिया जाता है? इसका खण्डन करते हुए यास्क कहते है कि कुछ वस्तुओं या प्राणियों का नाम बाद में की जाने वाली क्रियाओं के आधार पर रख दिया जाता है, पर कुछ के विषय में ऐसा नहीं है। कहीं भ्तकालीन क्रिया के आधार पर जैसे अग्निष्टोम आदि नाम पड़ता है और कहीं वर्तमान कालीन और भविष्यकालीन क्रिया के आधार पर जैसे बिल्वादः, लम्बचूड़कः आदि नाम पड जाते हैं।

गार्ग्य व शाकटायन के सिद्धान्तों का समन्वय इस रूप में किया जा सकता है कि गार्ग्य का यह कथन तो ठीक है कि सभो शब्दों को धातुज नहीं कहा जा सकता क्योंकि शब्द की निष्पत्ति में अनेक कारण और तत्त्व काम करते है परन्तु गार्ग्य द्वारा किये आक्षेप भो उचित नहीं। यास्क में उन आक्षेपों का खण्डन उचित ही किया है। हो सकता है मूलतः शब्द धातुज रहे हो परन्तु उनमें बाद में परिवर्तन हो गया होगा अतः निर्धारित व्याकरण के नियमों पर खरे न उतरने के कारण उन्हें अधातुज कह देना स्वाभाविक है।

11.10 मन्त्राः सार्थकाः अनर्थका वा

वेदमंत्र भारतीय ज्ञान व मनीषा के प्रमुख स्त्रोत है परन्तु जब तक मंत्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, उसके कठिन शब्दों के प्रकृति व प्रत्यय तथा स्वर व संस्कार के विषय में जाना नहीं जायेगा तब तक उनके अर्थ का निर्धारण नहीं हो सकेगा। वेद मंत्रों के अर्थ करने में निरुक्त का अत्यधिक योगदान है अतः निरुक्त को वेदविद्या का स्थान कहा जाता है। यास्क व सभो नैरुक्त वेदमंत्रों को सार्थक मानते हैं। कौत्स का मत है कि वेदमंत्र निरर्थक है, यदि वेदमंत्र को निरर्थक मान लिया जाये तो निरुक्त का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है अतः यास्क कौत्स द्वारा दिये गये हेतुओं को पूर्वपक्ष के रुप में उपस्थित कर, अपनी संक्षिप्त शैली में उनकी युक्तियों के खण्डन का प्रयास किया है।

1. कौत्स का मत है कि 'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति' अर्थात, मंत्र शब्दों की निश्चित योजना वाले तथा निश्चित क्रम वाले होते हैं। उनके स्थान पर हम पर्यायों का प्रयोग नहीं कर सकते न उनका क्रम परिवर्तन कर सकते है जैसे 'अग्नि' ईले पुरोहितं' के स्थान पर 'वहि्न स्तौमि पुरोहित' का उच्चारण नहीं किया जा सकता।

   यास्क कौत्स के इस मत का खण्डन करते हुए कहते है कि लौकिक संस्कृत में भो ऐसे अनेक प्रयोग मिलते है जहाँ शब्दों की योजना व क्रम निश्चित है जैसे– इन्द्राग्नि, पितापुत्रौ, मातापितरौ इत्यादि। इन प्रयोगों में न तो शब्द बदले जा सकते है न क्रम। शब्दों का क्रम परिवर्तन करने से छंदोंभग का दोष उत्पन्न हो सकता है।

2. अथापि ब्राह्मणेन रुप सम्पन्नाः विधीयन्ते। अर्थात मंत्रों का अपना कोई अर्थ नहीं है यह ब्राह्मणों द्वारा अर्थ युक्त बनाये जाते हैं। जैसे उरु प्रथस्व इस (मंत्र) से फैलाता है। इस मत का खण्डन करते हुए यास्क कहते है कि वेद में कहीं गई बात का ब्राह्मण अनुवाद मात्र करते हैं। किसी बात का अनुवाद कर देने मात्र से अनुदित अंश निरर्थक नहीं हो जाता। ब्राह्मण वेद मंत्रों को सार्थक समझ कर ही भिन्न–भिन्न कर्मों में उनका विनियोग करता है।

3. अथापि अनुपपन्नार्थः भवन्ति औषधे त्रायस्व एनम् स्वधिते मैनं हिंसी इत्याह हिंसन्। कौत्स ऋषि कहते है कि मंत्र असंगत अर्थ वाले हैं। जैसे यजमान वृक्ष काटने के लिए जाते समय कुल्हाड़ा मारने के स्थान पर "औषधे त्रायस्व एनम्", मंत्रों का प्रयोग करता है। यास्क इसका निराकरण करते हुए कहते है कि वेद ऐसा विधान करते है कि वैदिक दृष्टि से होने वाली हिंसा वस्तुतः हिंसा नहीं है। मीमांसको ने 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' इस तथ्य को स्वीकार किया है। मेरा मन्तव्य है कि वेदार्थ को जानने के लिए उसके सम्पूर्ण भाव को समझने तथा गूढ़ार्थ को जानने के बाद ही उसके वास्तविक अर्थ तक पहुंचा जा सकता है।

4. अथापि विप्रति सिद्धार्था भवन्ति। अर्थात् मंत्र विरोधी अर्थ वाले होते हैं। उदाहरण क लिए उन्होंने कुछ मंत्रों की ओर संकेत किया है। जैसे एक ओर तो रुद्र की एकता का प्रतिपादन है तो दूसरी ओर अनेक सहस्त्र उनके द्वारा सैकड़ों शत्रु सेनाओं को विजित किये जाने का उल्लेख है। मंत्रों की परस्पर विरोधिता उनकी निरर्थकता सिद्ध करती है। यास्क इस प्रसंग मे कहते है कि लौकिक भाषा में भो इस तरह के प्रयोग मिलते है। जैसे एक, दो या कम शत्रु वाले ब्राह्मण के लिए 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः', अनमित्र राजा आदि। इससे अभिप्राय शत्रुओं की न्यूनता से है। अतः लोकवत् मंत्रों की सार्थकता भो है और तदनुकूल समाधान।

5. अथापि जानन्तं सम्प्रेषयति – जानने वाले को बताता है। यथा–'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' कौन याज्ञिक नहीं जानता कि आहुति अग्नि में डाली जाती है, फिर अध्वर्यु होता के इस वाक्य को कहने की क्या आवश्यकता है?

इस आरोप का खण्डन करते हुए यास्क कहते है कि लौकिक व्यवहार में भो अनेक स्थानों पर ज्ञात होने पर भो शिष्य के द्वारा गुरु को अभिवादन करते हुए 'अभिवादये देवदत्तो अहम् भो। इस तरह के प्रयोग देखे जाते हैं।

6. अथाप्याह – 'आदिति सर्वम् इति वेदमंत्रों' में जो यह कहा गया कि अदिति ही सब कुछ है, इसी तरह के प्रयोग लौकिक भाषा में भो प्राप्त होते हैं। यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति। इसी प्रकार के अनेकानेक प्रयोग लोक में देखने को मिलते हैं।

7. अथापि विस्पष्टार्था भवन्ति–अभ्यग, यादृश्मिन्, काणुका इति। अर्थात मंत्रों के अनेक शब्द अस्पष्ट अर्थ वाले है। इस प्रकार कौत्स वेद मंत्रों का अनर्थक मानकर केवल उच्चारण या पाठ ही उनका एक मात्र प्रयोजन मानते है।

   यास्क ने इस अंतिम आक्षेप का खण्डन भो चातुर्यपूर्ण ढंग से किया है। इसमें कहने वाले व्यक्ति या अल्पज्ञ का ही दोष है, शब्दों का नहीं। नैव स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। यह खम्बे या ढूंढ का दोष नहीं है यदि उसे अन्धा नहीं देख सकता। यह व्यक्ति की दृष्टि हीनता का ही दोष है।

निष्कर्ष – इस प्रकार शब्दों को अस्पष्टार्थक कहकर छोड़ देने की अपेक्षा विविध उपायों से उनके अर्थों को जानने का उपाय करना चाहिये। कौत्स ने विभिन्न हेतुओं को प्रस्तुत कर वद मंत्रों की निरर्थकता, दुरुहता व अस्पष्टार्थकता को कहा है तो यास्क ने उनका बड़ी चातुर्यपूर्ण ढंग से उत्तर देकर वेदाध्ययन करने वालों की अनुसंधान की गति में तीव्रता व ओज का समावेश किया है तथा वेद ज्ञान के विषय में अनास्थावान लोगों को सटीक उत्तर दिया है।

11.11 यास्क का निघण्टु और वेदांगों के प्रवर्तन पर प्रकाश –

साक्षात्कृत धर्माणः ऋषयो ढाभवुः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेने मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तः अवरे क्लिम्ग्रहणाय इकं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं श वेदांगानि च। बिल्मं=भिल्मम्। भासनमिति वा।

प्रस्तुत गद्यांश में यास्क वेदांग रचना का प्रयोजन बताते हुए कहते है कि यदि वेदांग न होते तथा ऋषियों ने वेदांगों का प्रणयन न किया होता तो वेदों के ज्ञान का कालान्तर में विनाश हो जाता। अति प्राचीन काल में धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हुए उन्होंने अप्रत्यक्षकृत करने वाले ऋषियों को उपदेश के माध्यम से मन्त्रों को प्रदान किए। मौखिक परम्परा से वैदिक मंत्रों को सुरक्षित रखने में कष्ट का अनुभव करते हुए ऋषियों ने निघण्टु ग्रन्थ का प्रणयन किया गया जैसे बिल्म का पर्याय है भिल्म अर्थात यास्क ने बिल्म का अर्थ भदन करने वाले भिल्म के रुप में किया है। इन्हीं ऋषियों के कारण वेद–वेदांगों की नाना शाखायें आगे प्रचलित हुई तथा बिल्म का अर्थ प्रकाशन स्पष्टत या प्रतीत होने लगा। अर्थात जब ऋषियों ने देखा कि आगे मनुष्य की बुद्धि का ह्रास होता जा रहा है तथा वेदमन्त्रों को मौखिक परम्परा के द्वारा सुरक्षित रखना कठिन है तो उन्होंने वेदार्थ को जानने के लिए वेदांग ग्रन्थों व ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन किया गया।

तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम् संविज्ञातानि तानि। यथा गौरखः पुरुषो हस्तीति।

यास्क के मतानुसार जिन नामों में स्वर एवं व्युत्पत्ति (प्रकृति–प्रत्यय) संगत हो तथा प्रादेशिक गुण पर आधारित हो उन्हें निश्चित रुप से आख्यातज मानना चाहिये। गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि शब्द आख्यातज या धातुज नहीं है।

यदि सभो शब्द धातुज होते तो जो व्यक्ति जो कर्म करता उसी के आधार पर उसका नामकरण हो जाता। जो मार्ग को व्याप्त करता वही अश्व=घोड़ा कहलाता।

11.12 यास्क के मत में निर्वचन के तीन प्रमुख सिद्धान्त –

1. तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्।
2. अथानन्वितेऽथप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।
3. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर–वर्ण–सामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्।

1. यास्क के अनुसार जब किसी शब्द में वर्तमान धातु का वही अर्थ हो, जो उस शब्द का है, स्वर व बनावट के विषय में कोई आपत्ति नही हो और व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया के द्वारा ही बनावट सिद्ध की जा सके, तब ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्य रीति से करें। जैसे– ✓पच् धातु से ण्वुल् (अक) प्रत्यय के रूप में व्याकरण की प्रक्रिया तथा पच् को पाच् के रूप में परिवर्तित कर पाचक शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। व्युत्पत्ति की यह पद्धति व्याकरण से मेल खाती है तथा वैज्ञानिक पद्धति है।
2. जब शब्द में दिखलाई पड़ने वाली धातु का अर्थ शब्द से भिन्न हो, या धातु से उस शब्द की सिद्धि करने में व्याकरण बाधक हो तब उस शब्द के विभिन्न रूपों की तुलना धातु के विभिन्न रूपों से करनी चाहिये तथा कहीं पर भो समानता मिलने पर निर्वचन कर देना चाहिये। यथा 'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति राज् धातु से की जाती है क्योंकि राजा ही राज्य में शोभते है (राजन्ते)।
3. शब्द के विभिन्न रूपों की समानता धातु के विभिन्न रूपों से न दिखे तो धातु और शब्द में एक आधस्वर या व्यञ्जन की समानता को आधार मानकर निर्वचन करना चाहिये। यथा– रकार तथा पकार की समानता होने से ही 'रुच्' धातु से रूप की व्युत्पत्ति है।

11.13 पारिभाषिक शब्दावली

1. **कल्प** –वैदिक वाङ्मय के विस्तार को देखकर उनको सूत्रबद्ध करने का जो प्रयास किया गया उसे 'कल्प' कहा गया।
2. **व्याकरण** –शब्दों के निर्माण, उनकी शुद्धता तथा प्रकृति व प्रत्यय का विवेचन व्याकरण करता है। 'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'।
3. **छंद** – सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने छंद का लक्षण ''जो अक्षरों का परिमाण है, वह छंद है''– (यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः) किया है।
4. **ज्योतिष** –''ज्योतिषामयनं चक्षुः'' ज्योतिष वेद रुपी पुरुष का चक्षु है। दिन, रात, वर्ष, ऋतु, मास आदि का ज्ञान बिना ज्योतिष के नहीं हो सकता।
5. **निरुक्त** – अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। अर्थात् अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रुप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वह निरुक्त है।

11.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निम्न में से जो प्रश्न सही हो उसके आगे 3 का चिह्न लगाये–

क. स्वर–वर्ण आदि के उच्चारण का नियम बताने वाली विद्या को शिक्षा कहते है। ( )

ख. वेद विहित कर्मों को सूत्रबद्ध करने का प्रयास 'कल्प' है। ( )

ग. व्याकरण को वेद का प्राण कहा गया है। ( )

घ. निरुक्त का कार्य निघण्टु के शब्दों का निर्वचन करना है। ( )

ङ निरुक्त व्याकरण की सम्पूर्णता है। ( )

2. निम्न में से निरुक्तों की संख्या है –

(अ) 7 (ब) 12 (स) 15 (द) 14 ( )

3. निघण्टु पर लिखे गये भाष्य का नाम है–

(अ) महाभाष्य (ब) निरुक्त

(स) व्याकरण (द) अष्टाध्यायी ( )

4. वेदांगों के महत्त्व पर प्रकाश डालिये?

.5. वेदांगों में निरुक्त का स्थान विषय पर अपने विचार बताइये?

6 यास्क के काल के विषय में टिप्पणी लिखिये?

7. निम्नलिखित में सही के आगे ✓ तथा गलत के आगे X का चिह्न लगाये–

क. निरुक्त निघण्टु की टीका है। ( )

ख. निघण्टु शब्दा का संकलन ग्रन्थ है। ( )

ग. यास्क ने कौत्स की युक्तियों का समर्थन किया है। ( )

घ. यास्क के अनुसार शब्द धातुज है। ( )

ङ निम्न स्थलों की व्याख्या कीजिये –

8. भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्व प्रधानानि नामानि।

अथवा

इन्द्रिय नित्यं वचनम् औदुम्बरायणः। तंत्र चतुष्ट्यं नोपपद्यते। अयुगपद् उत्पन्नां वा शब्दानाम् इतरेतरोपदेशः; शास्त्रकृतो योगश्च।

9. षड्भावविकारा भवन्तोति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति इति।

अथवा

साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयोबभवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राहुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरो बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च।

11. शब्द धातुज है अथवा अधातुज इस मत की समीक्षा कीजिये।

12. 'मन्त्र सार्थक है या अनर्थक' इस मत की युक्तियुक्त स्थापना कीजिये।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (क) 3 (ख) 3 (ग) 7 (घ) 3 (ङ) 3

2. (द)

3. (ब)

4. इकाई 11.2 पर देखें।

5. इकाई 11.4 पर देखें।

6. इकाई 11.4 पर देखें।

बोध प्रश्न 2 के उत्तर

1. (क) 3 (ख) 3 (ग) 7 (घ) 3

2. इकाई 11.6.1 पर देखें।

अथवा

इकाई 11.8 पर देखें।

3. इकाई 11.7 पर देखें।

अथवा

इकाई 11.12 पर देखें।

4. इकाई 11.9 पर देखें।

6. इकाई 11.10 पर देखें।

11.15 सारांश

इस प्रकार यास्क ने निरुक्त के प्रथम अध्याय में भ्मिका के रूप में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात की चर्चा करते हुए शब्द के नित्यत्व पक्ष पर बल दिया है। उन्होंने षड्भाव विकारों की चर्चा करते हुए शब्द व्यापकता, शब्दों के धातुज सिद्धान्त तथा वेद मंत्रों की सार्थकता पर भो अपने विचार प्रकट किए हैं। यास्क हरसम्भव शब्द के निर्वचन पर बल देते हैं पर उनका कुछ नियम भाषा विज्ञान के ध्वनि सिद्धान्तों के विरूद्ध हैं। कुछ निश्चित ध्वनियाँ ही किसी निश्चित समय पर बदलती है। अतः 'न संस्कारम् आद्रियेत्' एक बहुत बड़ी भ्ल है। परन्तु यदि निर्वचन की असमथता दिखाई जाए तो यास्क का धातुज सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। अतः उन्होंने हरसम्भव शब्द का निर्वचन करने की कोशिश की है। कुछ त्रुटियों के उपरान्त भो यास्क के निरुक्त की वेदार्थ को जानने के लिए महती भ्मिका है और भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भो इनके निर्वचनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

11.16 संदभ ग्रंथ सूची

1. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी,1955.
2. निरुक्तम् (खण्ड 1) – डॉ. उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2006.
3. हिन्दी निरुक्त – डॉ. कपिलदेव शास्त्री एवं चुन्नी लाल शुक्ल साहित्य भडार, मेरठ, 1967.
4. यास्कप्रणीतम निरुक्तम् –डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर,1999.

हिन्दी अर्थ– (जो इस आत्मा) को मारने वाला (अपने आपका) समझता है, यदि अपने को कोई मारा गया मानता है, (तो) वे दोनों ही आत्मा के विषय में नहीं जानते (कि) यह न किसी को मारता है। न स्वयं मारा जा सकता है।

व्याख्या– यम ने कहा कि जो इस अविनाशी आत्मा को मारने वाला या मरने वाला समझता है वे दोनों ही इस आत्मविषयक ज्ञान से शून्य हैं, क्योंकि वस्तुतः यह न किसी को मारता है न किसी से मारा जाता है।

विशेष– य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभो तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।2.19

इस गीतोक्त वचन का साम्य इस मन्त्र में है।

प्रसंग– आत्मा की सूक्ष्मता एवं व्यापकता का वर्णन किया गया है।

अणोरणीयन्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसाादान्महिमानमात्मनः।।20।।

अन्वय – अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्म अस्य जन्तोः गुहायाम्, निहितः क्रतुः वीतशोकः
धातुप्रसादात् आत्मनः तम् महिमानम् पश्यति।।

हिन्दी अर्थ – सूक्ष्म से भो सूक्ष्म महान् से भो महान् यह आत्मा जीव के (ह्रदय) गुफा में निहित है। ब्रह्म की कृपा से ही उस आत्मा की महिमा को निष्काम कर्म करने वाला वीतरागी व्यक्ति देखता है।

व्याख्या– यम नचिकेता को आत्मस्वरूप समझाते हुये कहते है कि यह आत्मा सर्वव्यापक एवं नित्य होने के कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही नहीं हैः बल्कि यह महान् से भो महान् है। अतः यह आकाश, देश, कालादि की सीमा से परे है, जिसका वीक्षण निष्काम कर्म करने वाला वीत–शोक ही भगवत्कृपा से कर सकता है। यह आत्मा सगुणोपासक भक्तों के लिये सगुणरूप में तथा निर्गुणोपासक विशद्ध अध्यात्मवादियों के लिये निर्गुणरूप में हैं।

विशेष–

1 ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।।

गीता में भो भगवान श्रीकृष्ण ने निर्गुण–सगुण स्वरूपों को बताया है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्स सुधीर्भाक्ता दुग्धं गीतामृतम् महत्।

उपनिषदों की सारभ्त गीता के श्लोकों में उपर्युक्त मन्त्र शब्दतः और भावतः उपलब्ध होते हैं।

प्रसंग– वह आत्मतत्त्व एकत्र स्थित होकर भो सर्वत्र विद्यमान रहता है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।21।।

अन्वय– आसीनः (सन्) दूरं व्रजति शयानः सर्वतः याति मदामदं देवं मदन्यः कः ज्ञातुम् अर्हति।

हिन्दी अर्थ– (यह आत्मा) बैठा हुआ भो दूर चला जाता है। सोया हुआ भो सर्वत्र चला जाता है (या गति करता है)। मेरे अतिरिक्त कौन (इस) हर्ष– अहर्ष रूप परमेश्वर को जान सकता है।

व्याख्या– सूक्ष्मातिसूक्ष्म यह आत्मा एक स्थान पर स्थित होकर भो दूर–दूर तक अभिव्याप्त है तथा सोता हुआ भो चारों और व्याप्त है। ऐसे हर्ष शोकादिरहित उस परम आत्मतत्व को भगवत्प्रसाद से अनुगृहीत हमसे भिन्न दूसरा कौन जानने में समर्थ है।